

## छोटा-सा बचपन

अक्सर लोग कहते हैं—बच्चों को चोरी की आदत मत डालो। मैंने कितने ही झूठ बोले हैं बचपन में। कितनी ही चोरी की—फिर भी मेरी आदत चोरी की नहीं पड़ी। अब तो मुझे लगता है कि दूसरों के हित में बोला गया झूठ, झूठ नहीं—सच से बढ़कर होता है।

—गरिमा की डायरी से

जब से हम लोग महिला मुद्दों से जुड़े, न जाने कितनी बार हमने गाँव की औरतों से उनकी कहानियाँ पूछीं, और न जाने कितनी कार्यशालाओं में उन्हें अपनी कहानियाँ तथा अपने अनुभव सुना डाले। पर जब अपनी डायरियों की शुरुआत की, तो अचानक अहसास हुआ कि बचपन के बारे में तो किसी ने पूछा ही नहीं बरसों से। एक ज़माना हो गया बचपन को याद किये। जब बचपन को याद करने बैठे, तब इतने आँसू रोये कि समझ नहीं आता था कि दूसरे लेखक जब किताबों और कविताओं में अपने बचपन को याद करते हैं, तब कैसे उन्हें तितलियों की तरह रंगबिरंगा—बचपन याद आता है, या फिर किसी चिड़िया की तरह दूर गगन में उड़ान भरता एक अतीत! हम तो जब—जब लिखने और सुनने—सुनाने बैठे, यही याद किया बार—बार कि कितना छोटा—सा वह दौर था हमारी जिन्दगियों का, जिसे लोग बचपन कहते हैं! और वह भी कितनी उलझनों और पीड़ाओं का मारा बचपन, जिसमें से कहीं जाति—भेद की सड़ांध आती है तो कहीं शराब की बू, कहीं तीसरी बेटी के रूप में जन्मने की पीड़ा, तो कहीं सम्पत्ति और पारिवारिक दुश्मनियों की कलह का शोर...

यादों के पलैश—बैक जो दिमाग में बार—बार कौंधे, उनमें चित्र देखे तो वही अभावों, भूख व ग़रीबी के, बेतहाशा पिटती माँ के, या अपने ही बदन पर माँ—बाप से खाई मार की चोटों के। बचपन की खुशियाँ, खेलकूद तो याद ही नहीं आये हमें। वह तो जब हमें याद दिलाया गया, तब याद आया कि हमने खेल भी खेले थे। यादों के इन कठिन पलों को हमने एक साथ जिया कभी अपने ही आँसू बहाते—पोंछते, तो कभी एक—दूसरे की पीठ सहलाते। इन्हीं सवालों के जवाब खोजने की कोशिश करते कि क्यों आया हमारे हिस्से में इतना दर्द? हमें वह सब क्यों नहीं मिला जो हर बच्चे का हक—हुकूक होता है? जाति, वर्ग, धर्म, लिंग वगैरह की तमाम खाइयाँ और भेदभाव कैसे गड्डु—मड्डु होकर हमारे बचपन में ऐसे घुल गये कि उनकी कड़वाहट अब भी हमारी ज़बानों पर जस की तस धरी है।

## बारे मुँह की बतियाँ:<sup>1</sup> टुकड़ा—टुकड़ा बचपन

सन् 1971 में राधा का जन्म उन्नाव ज़िले के एक छोटे से गाँव महरौली में हुआ था। इस गाँव में एकमात्र पासी परिवार राधा का ही था, जो मेहनत—मज़दूरी करके बड़ी मुश्किल से पेट पालता था। गाँव में कुर्मियों का बाहुल्य था। इन कुर्मियों के डर से अनेक पासी परिवार अपने—अपने घर छोड़कर गाँव से थोड़ी दूर पर एक पुरवा बनाकर रहने लगे थे। राधा के पिता हठी थे। वह अपना घर व गाँव छोड़ने को कतई तैयार नहीं हुए। पिताजी के इस हठ को तो अब हिम्मत ही कहेंगे। पर इसकी कीमत चुकाई उनके बच्चों ने, जिन्हें गाँव वालों ने कभी यह नहीं भूलने दिया कि वह अछूत हैं।

राधा पैदा हुई, तो घर में खाने के लिये अनाज नहीं था। पेट भरने के लिये अम्मा नर्हीं—सी राधा को खेत की मेड़ पर लिटा देती और सीला<sup>2</sup> बीनकर इकट्ठा करती। जो अनाज खेतों में पड़ा रहकर सड़ने लगता, वही राधा के परिवार के जीवन यापन का सहारा होता। जब राधा ने होश सँभाला तो यही सुना लोगों से: “अरे, यह तो वही है न, जिसे उसकी माँ मेड़ पर लिटा कर सीला बीनती थी?”

घर में जब अनाज नहीं होता तो राब<sup>3</sup> का शर्बत पिया जाता था। घर में पिताजी का आतंक राधा को भूलता नहीं है—उनका माँ के साथ छोटी—छोटी बातों पर मार—पीट करना, माँ के लिये रखे शर्बत में ज़बरदस्ती पानी मिला देना, और यह सब देखकर राधा का दहशत के मारे खामोश हो जाना या क्रोधित पिताजी का मुँह खुलते ही डर के मारे रोने लगना।

गाँव के एकमात्र दलित—परिवार में पलती—बढ़ती राधा छुआछूत की जकड़न से लगातार जद्दोजहद करती। उसकी समझ में ही नहीं आता कि क्यों लोग उसे अपने घरों के बरतन नहीं छूने देते या अपने चौके के इर्द—गिर्द फटकने नहीं देते! क्यों लोग अपने बच्चों के साथ खेलने से रोकते हैं उसे! या अगर कभी खेल लेती है उनके साथ, तो अपने ही घर में उसे मार क्यों पड़ती है?

माँ की जान हमेशा काम में रहती। उन्हें दम मारने की फुरसत न मिलती, लेकिन चाहे जितनी हैरान—परेशान हों, अम्मा रोज़ थोड़ा—सा समय निकाल अपनी राधा को तेल, काजल लगातीं, तैयार करतीं, और गले में हमेशा एक सुतिया<sup>4</sup> पहनाये रखतीं। पड़ोसी अक्सर इसका मज़ाक बनाते। कहते, “देखो, अपनी बिटिया को ऐसे सजा कर रखती है कि पता ही नहीं चलता है कि पासी है।”

अछूत होने का कष्ट स्कूल जाने के साथ और बढ़ता गया। पिता के हठ और स्वाभिमान ने कुर्मियों के दबाव के आगे झुकने से इन्कार कर दिया और अपनी दो बेटियों और तीन बेटों को पढ़ने भेजा। एक दलित—परिवार भी शिक्षा पाने का सपना सँजो सकता है, यह ऊँची बिरादरी वालों को सुहाया नहीं। लोगों का बार—बार यही ताना मिलता: “यह पसियवा अपने बच्चों की पढ़ाई में इतना पैसा

<sup>1</sup> छोटे बच्चों के मुँह से निकली हुई बातें।

<sup>2</sup> फसल की कटाई के दौरान खेत में गिरकर जहाँ—तहाँ बिखरे दीखते अनाज के नाम मात्र के दाने।

<sup>3</sup> गन्ने के रस से बनी हुई ख़ाँड़।

<sup>4</sup> गले का आभूषण।

क्यों लगा रहा है?.....क्यों सवर्णों के साथ बराबरी कर रहा है? लड़कों को मज़दूरी करके पैसा कमाना है। लड़कियों को घास छीलना और चौका बरतन करना है। यही सिखाये तो आगे चल कर काम आयेगा।”

स्कूल के भीतर भी छुटकारा न मिला। सवर्ण मास्टर राधा के हाथ से छुए लोटे का पानी नहीं पीते थे। एक बार जब एक मास्टरजी ने राधा से पानी मँगवा कर पी लिया, तो राधा की खुशी का ठिकाना न रहा। घर आते ही माँ को बताया—“आज मुंशीजी पानी पिये रहें हमरे हाथ से।”

उस समय गाँव के प्राथमिक विद्यालय के ब्राह्मण अध्यापकों को ‘पण्डितजी’ कह कर सम्बोधित किया जाता था लेकिन अन्य सभी जातियों के शिक्षक ‘मुंशीजी’ कहलाते थे।

000

सम्बोधन की ठीक इसी गैरबराबरी पर सवाल करते होश सँभाला मधुलिका ने, जिसका जन्म शाहजहाँपुर जिले के मानपुर गाँव में रैदास जाति के एक अध्यापक के घर में हुआ। मधुलिका यह समझ ही नहीं पाती थी कि स्कूल के दूसरे मास्टरों को तो ‘पण्डितजी’ कहा जाता है, फिर मेरे पिताजी को लोग ‘मुंशीजी’ क्यों कहते हैं? मधुलिका के जन्म के समय ज़मीन के पीछे झगड़ा हुआ था। झगड़े में पिताजी को काफ़ी चोट आयी थी। इसका इल्ज़ाम मधुलिका के मत्थे मढ़ा गया: “यह सब तो इस लड़की के पैदा होने से हुआ है। इससे तो अच्छा रहता कि यह मर जाती।”

पाँच बेटियों को जन्म देने वाली मधुलिका की माँ को ससुराल के तानों से कभी छुटकारा न मिलता। एक तो पाँच बेटियाँ, ऊपर से मायके में मधुलिका की नानी की बेवक़्त मौत। इसकी वजह से माँ के कन्धों पर उनके छोटे भाई-बहनों की ज़िम्मेदारी भी आ पड़ी। मधुलिका के छोटे मामा और मौसी, माँ के पास ही रहते थे। मधुलिका के पिताजी को उनका खर्च भी उठाना पड़ता था। इस कारण पिता की स्कूल की नौकरी और घर में अच्छी खेती-बाड़ी होने के बावजूद बेहद तंगी रही।

“पाँच-पाँच बेटियाँ हैं, आखिर कितना करें और कहाँ से करें?” यही कहते पिताजी बार-बार।

फिर भी थोड़ा-बहुत लाड़ तो अम्मा अपनी बिटियाओं से कर ही लेती थीं। मधुलिका को याद है कि कभी-कभी माँ गरम पानी कर उसे नहला देतीं या बाल बाँध कर तैयार कर देतीं, तो मधुलिका फूली न समाती। भाई मना करता रह जाता, पर माँ बड़े शौक से बिटियाओं के लिये कंगन-चूड़ियाँ खरीद देतीं।

पिता के मास्टर होने के कारण मधुलिका स्कूल तो गयी, लेकिन पिताजी ने उसकी पढ़ाई को गम्भीरता से नहीं लिया। फीस जमा न होने की वजह से उसे दो साल तक पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बाद में फिर से नाम लिखवाया गया और किसी तरह मधुलिका ने आठवीं पास कर ली।

मधुलिका के अनुभव जातिभेद को लेकर राधा की अपेक्षा काफ़ी भिन्न थे। मानपुर में मधुलिका के घर खेती थी, अपना कुँआ था। रैदासों का बाहुल्य था। ब्राह्मणों की आर्थिक दशा काफ़ी गयी-गुज़री थी। मधुलिका को कभी लगा ही नहीं कि वह किसी छोटी या अनुसूचित जाति से है। यह तो उसने ज़रूर जाना कि ब्राह्मण ऊपर माने जाते हैं और रैदास नीचे, पर यह भी लगता रहता कि हम तो ब्राह्मणों से बहुत अच्छे हैं। उनके पास तो कुछ है ही नहीं।

मधुलिका और राधा की ज़िन्दगी के टुकड़ों को आजू-बाजू रख कर देखें, तो समझ में आता है कि भिन्न-भिन्न परिवारों के लिये अछूत होने के मायने भी कितने अलग होते हैं। जहाँ राधा के लिये अछूत शब्द ने बचपन से ही एक दर्दनाक-तिरस्कार का रूप धर लिया, वहीं मधुलिका के लिये अधिकतर वह एक खोखला-लपज़ ही बना रहा। ऊँच-नीच के बारे में सुना तो सही, पर ऊँच-नीच से जुड़ी मान्यताएँ किस तरह से एक दलित-परिवार के रोएँ-रोएँ में ज़बरन ढूँस दी जाती हैं, इस पीड़ा से मधुलिका ज़्यादातर अनजानी ही रही।

000

संध्या और गरिमा के जीवन के अंशों को इसी सूत्र में पिरोते हैं, तो अहसास होता है कि कितना गहरा तथा जटिल है जाति-व्यवस्था का यह ताना-बाना और— धुर बचपन की मासूमियत में ही इसे आत्मसात करने का सिलसिला किस तरह शुरू हो जाता है; कभी पवित्रता के नाम पर, तो कभी आत्मसंयम और व्रत-उपवासों के नाम पर...

बहुत कुछ था और सब कुछ खत्म हो गया! यह हूक रह-रह कर उठती है संध्या के मन में। सन् 1968 में उन्नाव ज़िले के सुजानपुर नाम के एक ब्राह्मण-बाहुल्य गाँव में संध्या की पैदाइश हुई। जिस दिन संध्या ने जन्म लिया, वह नवरात्र का आखिरी दिन था। हवन हो रहा था। "घर अछूत हो गया है," यह कहकर बाबा (दादाजी) ने हवन बन्द करवाना चाहा। तब संध्या के पिता, जो सरकारी डॉक्टर थे, ने विरोध किया। बोले, "यह तो खुशी का मौका है, हवन बन्द नहीं होगा।"

पाँच भाइयों के बाद जन्मी इस बेटे को पिता ने नाम दिया, आभा—पाँच भाइयों की आभा। और पड़ोस की दादी ने प्यार से पुकारा—पच्चो। लेकिन छः माह के भीतर ही आभा के पिता गाँव के एक फ़साद में अपने ही गाँव के कुछ लोगों द्वारा मारे गये।

पिता की मौत के बाद बाबा ने घोषणा कर दी: "अब तो अंधकार हो गया है, इसलिये इसका नाम आभा नहीं, संध्या रहेगा।"

पिता की मौत का सदमा संध्या के नाम में सिमटकर हमेशा रिसने वाला एक नासूर बन गया। बाबा अपने बेटे की मौत की गुनाहगार बराबर संध्या को मानते रहे। अपने बाप के कातिलों के डर और नफ़रत के साये में पली संध्या घर की चहारदीवारियों के अन्दर कब बड़ी हो गयी, यह ख़बर ही नहीं लगी।

पाँच बेटों और एक बेटे को पढ़ाना-लिखाना संध्या की माँ के सामने बहुत बड़ी चुनौती थी। आर्थिक तंगियों से घिरी और कुलीनता के बोझ में दबी उस जवान ब्राह्मण-विधवा को परिस्थितियों ने पूरी तरह ससुर और जेठ पर निर्भर बना दिया था। संध्या को पढ़ने के लिये तारुजी के पास उन्नाव भेज दिया गया। उन्नाव की ही घटना है, जब दस साल की उम्र में संध्या को कान के पास औंधा फोड़ा निकल आया। बचने की उम्मीद नहीं रही। सबने कहा: "इसके कान में कैन्सर हो गया है, अब ज़िन्दा न रहेगी।"

संध्या को खाने को भी ठीक से नहीं मिला, क्योंकि सबको लगता था कि इसकी देखभाल करके क्या होगा। यह तो मर ही जायेगी। फिर भी जब संध्या के जिद्दी-शरीर ने दम तोड़ने से इन्कार कर दिया, तो यही सुनने को मिला: "न मरेगी, न माचा (मुक्ति) देगी।"

इन हालात में पिता की मौत का दुख गहराता चला गया। संध्या के भीतर कहीं गहरे में सालता कि अगर पिता को जीना ही नहीं था, तो मैं पैदा क्यों हो गयी? लगातार कष्ट, अपमान और उपेक्षा दिन पर दिन संध्या को विद्रोही बनाते गये—वह जो करने की ठान लेती, वह पूरा करे बिना मानती नहीं। अन्य लड़कियों की तरह रहना संध्या को तनिक भी नहीं सुहाता। तीज-त्योहारों पर कभी माँ हठ करके सजा भी देती, तो थोड़ी ही देर में संध्या सब उतार फेंकती। माँ को तो उसने कभी सजते-सँवरते हुए देखा नहीं था, इसलिये इन सब चीजों में संध्या की रुचि जागी ही नहीं। कभी-कभी लगता है कि परिस्थितियों की मार में पली-पकी ये अरुचि, जिद और अदम्य-क्रोध ही तो कहीं संध्या को जीवन की तमाम सहज भावनाओं और प्रक्रियाओं से दूर नहीं कर बैठे?

000

लखनऊ से लगे मनोहरपुर गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मी गरिमा के हालात भी ख़ासी खेती-बारी के बावजूद कुछ इसी तरह के थे। बाबा (दादाजी) सात बहनों के बीच इकलौते भाई थे, बेटों का बहुत शौक था उन्हें। गरिमा से पहले एक भाई आठ माह का होकर मर गया था। बीमार बाबा सहित घर में सब बेटे की आस लगाये बैठे थे। इसलिए जब बिटिया के पैदा होने की ख़बर सुनी, तो बाबा बोले, "बत्तियाँ बुझा दो। अँधेरा छा गया है।"

ऐसा कहने के एक हफ़ते बाद ही बाबा ने दम तोड़ दिया।

बाबा के अन्तिम समय को अन्धकारमय बना देने वाली नन्हीं-सी गरिमा के हिस्से में हँसने-मुस्कुराने के पल कम ही आये। अपने चारों भाइयों में सबसे छोटे गरिमा के पिता, पक्के शराबी थे। बाबा इस लत से भली-भाँति परिचित थे। वह डरते थे कि बेटा सब कुछ शराब में गवाँ देगा। इसीलिये सौ-सौ बीघा खेती अपने सब बेटों और चालीस-चालीस बीघा सब बहुओं के नाम करने के बाद बाबा ने गरिमा की माँ को बीस बीघा खेती औरों से ज़्यादा दी, ताकि मुसीबत पड़ने पर इस विधवा बहू को किसी के आगे हाथ न पसारना पड़े। बाबा ने एक छोटा-सा मकान भी दे दिया था। गरिमा की माँ आज भी इसी मकान में रहती हैं।

होश सँभालते ही गरिमा ने घर में आये दिन नशे में धुत बाप के हाथों माँ को बेइन्तिहा पिटते हुए देखा था। बहाने-बहाने से मारते थे। अक्सर नशे में पड़े रहना बाप का नियम-सा रहता। बिस्तर से उठते ही पन्द्रह-पन्द्रह दिन लगातार पीना चलता रहता। यह तब तक न थमता, जब तक बीमार न पड़ जाते। घर के सारे खर्च खेती से ही चलते थे और पिता की दारू भी! जब तक घर में अनाज रहता, पिता पूरी तरह से बेपरवाह होकर उसे अपनी दारू के लिये बेचते जाते। घर की ज़रूरतें पूरी करने के लिये माँ अक्सर गरिमा को चोरी से अनाज बेचने को देतीं। कभी-कभी माँ एक बोरा धान, मूँगफली और दाल छिपाकर रख देतीं ताकि सब कुछ ख़त्म हो जाने पर भी बच्चों का पेट चलता रहे।

ऐसी ही कुछ घटनाएँ गरिमा के दिल में गहरी टीसों बनकर उभरती हैं। एक दिन घर में खाने को कुछ नहीं था। बहुत दिनों की रखी दाल थी, बस! वही दाल पकाकर माँ जब तीनों बच्चों के साथ भूख मिटाने बैठी, तो ऊपर कीड़े ही कीड़े तैरते दिखे। दाल फेंकनी पड़ी।

इसी तरह एक दिन गरिमा अपने दोनों छोटे भाई—बहन को साथ लेकर श्राद्ध में खाने गयी। वह जब खुद खाने बैठी, तो माँ की भूख कचोटती रही उसे: 'घर में तो कुछ है नहीं, माँ क्या खायेगी?' दो पूड़ियाँ अपनी फ्रॉक में छिपा लीं गरिमा ने और घर आकर माँ को हाथों में रख दी। माँ अपने आँसुओं को रोक नहीं पायीं।

भूख से बिलबिलाकर गरिमा ने बचपन में चोरी तो ज़रूर की, लेकिन चोरी की आदत उसे नहीं पड़ी, इस बात पर उसे गर्व है। हाँ, माँ की धार्मिक—प्रवृत्ति के असर और तकलीफों से मुक्ति पाने की तीव्र इच्छा ने गरिमा के भीतर ईश्वर—भक्ति ज़रूर जगा दी। बार—बार यही लगता उसे कि भगवान तो होगा ही, वरना दुनिया कैसे चलती होगी। दस—बारह साल की उम्र में ही गरिमा गुरुवार, शुक्रवार, सावन के सोमवार आदि के तमाम व्रत करने लगी। पूजा करते वक़्त अपने सब दुख—दर्द भगवान के सामने कह डालती।

इस सब के बीच सयानी होती गरिमा का जहाँ एक ओर बाप की शराब ने धर्म की तरफ़ झुकाव बढ़ाया, वहीं दूसरी ओर जाति—भेद की पेचीदगियों से भी पहली बार साक्षात्कार कराया। पिता का हर जाति के लोगों के साथ उठना, बैठना, पीना—पिलाना खूब चलता था। पिता को बुलाने के लिये गरिमा का रैदास बस्ती में आना—जाना आम बात थी। वह दिन भी याद है उसे, जब नत्थू चमार उसके घर के पास बैठे थे। गरिमा ने उन्हें इसी नाम से सम्बोधित किया, तो पिताजी ने फटकारा: "यह आपसे बड़े हैं।"

गरिमा लिखती है—“इससे मैंने सम्मान करना तो सीख लिया, पर जातिगत भेद न छोड़ पायी।”

माँ—बाप दोनों चाहते थे कि गरिमा पढ़े, इसलिये पढ़ायी शुरू हो गयी थी। कभी—कभार जब पिताजी घर पर नहीं होते थे, तो अपनी गुड़िया को लिये बाहर खेलने भी चली जाती। पर ज़्यादातर तो यही याद आता है गरिमा को कि माँ की परेशानियों ने कितना गम्भीर और परेशान बना डाला था उसे। हर पल इसी कोशिश में बीतता कि माँ को पिता की मार से कैसे बचा लूँ।

000

चाँदनी के दिलोदिमाग़ पर भी बचपन के नाम पर कुछ ऐसी ही तस्वीरें उभरती हैं—अब्बू की शराब, अम्मा का उनके हाथों पिटना और बाद में अम्मा के दबे हुए गुबार का उसके अपने नन्हें से जिस्म पर उबल कर बरस पड़ना। उन्नाव ज़िले के रानीपुर क़स्बे में जन्मी चाँदनी के घर हथकरघे का काम होता था। पिता कपड़ा भी बेचते थे। उसकी माँ तथा बहनें मिलकर घर में बुनाई का कुल काम करती थीं, जिससे घर के सारे खर्च चलते थे।

मेहनत—मज़दूरी करके पेट पालने वाले पिता को तीसरी बेटी के पैदा होने की ख़बर सुनते ही इतना सदमा पहुँचा कि वह गुस्से से बेकाबू हो गये। पति का क्रोध देखकर अम्मा खुद भी तैश में आ

गयीं और बच्ची जनने के कुछ ही घण्टों बाद हथकरघे पर यह कहते बैठ गयीं: "ऐसी बेटी से क्या फायदा; इससे तो अच्छा यह मर जाये।"

प्रसव और जन्म के तुरन्त बाद की गयी इस मेहनत ने अम्मा को बीमार कर दिया, कोई दवा पानी भी नहीं हुआ। पर चाँदनी को इस सारी उपेक्षा के बावजूद जिन्दा रहना था, इसलिए जीती रही वह।

चाँदनी की दोनों बड़ी बहनों की नज़र काफ़ी कमज़ोर थी, इसलिये उनसे बारीक काम नहीं होता था। माँ-बाप को डर था कि चाँदनी का भी यही हाल रहेगा। पर जब पता चला कि इसकी नज़र ठीक है, तो तीसरी बेटी के लिये प्यार थोड़ा बढ़ गया। अम्मा के साथ बिताये खुशनुमा पल याद करने बैठती है, तो चाँदनी के सामने सावन के झूले और अपने गाँव की रामलीला के नज़ारे घूमने लगते हैं। अम्मा के साथ चाँदनी हर बरस रामलीला देखने जाती। जिस दिन रावण फूँका जाता, जल्दी-जल्दी घर का सारा काम निबटा कर अम्मा सब बिटियाओं के साथ निकल जातीं ताकि तमाशे का एक भी ख़ास लम्हा कहीं छूट न जाये। ऐसे ही सावन के महीने में अम्मा अपनी तीनों बेटियों के साथ बड़े शौक से झूला झूलतीं। अपनी अम्मा को खुश देखकर चाँदनी दीवानी हो जाती। उसे ऐसा लगता, जैसे सावन के गीतों में डूब कर अम्मा अपने सारे ग़म भुला देना चाहती हों।

हथकरघे के इर्द-गिर्द पलती-बढ़ती चाँदनी अरबी-फ़ारसी पढ़ रही थी। अम्मा भी चाहती थीं कि यह बेटी पढ़ ले, क्योंकि दोनों बड़ी बेटियाँ आँखों की रोशनी कम होने के कारण बिल्कुल नहीं पढ़ पायीं थीं। चाँदनी की इसी के साथ बड़ी तमन्ना थी कि वह हिन्दी भी पढ़ सके, पर पड़ोसियों ने माँ-बाप को भड़काया: "हमारे मज़हब में हिन्दी पढ़ाना गुनाह है। वैसे भी लड़की को हिन्दी पढ़ाकर नौकरी करानी है क्या? बिगड़ जायेगी।"

फिर क्या था। अम्मा ने इस्लाम पढ़ने के लिये बिठा दिया। उस दिन छोटी-सी चाँदनी बहुत रोई। खाना छुआ भी नहीं। पड़ोस में रहने वाली पठान लड़कियाँ स्कूल जाती थीं। चाँदनी का मन और ज़िद देखकर उन्होंने अम्मा को समझाया। अम्मा भी मान गयीं। आख़िरकार पिताजी ने कन्या जूनियर हाई स्कूल में चाँदनी का नाम लिखवा दिया। पढ़ती हुई बेटी को देखकर अम्मा को तसल्ली होती। कोई जब चाँदनी से चिट्ठी पढ़वाने आ जाता, तो अम्मा की खुशी का ठिकाना न रहता। पाँचवीं के बाद पढ़ायी रुकवाने की कोशिशें फिर हुईं, लेकिन अम्मा के सहारे तथा अपनी लगन के बूते पर चाँदनी ने आठवीं तक की पढ़ायी पूरी कर ली।

आगे जीवन के दूसरे पहलुओं का सफ़र इतना आसान नहीं साबित हुआ, जितना आठवीं जमात तक का सफ़र!

कन्या जूनियर हाई स्कूल की ग्यारह अध्यापिकाओं में से सिर्फ़ दो मुसलमान थीं, बाकी सब हिन्दू। छठी में जब पढ़ रही थी तब पाककला की परीक्षा के लिये चाँदनी ने बड़े जतन से ज़रदा (मीठा चावल) बनाया। जितनी हिन्दू बहनजी थीं, उन्होंने सभी लड़कियों का बना हुआ खा लिया, पर चाँदनी और उसकी छः मुसलमान सहेलियों के हाथ का खाना छुआ भी नहीं। सिर्फ़ मुसलमान अध्यापिकाओं ने चाँदनी का ज़रदा चखा। जितनी बार पाककला का इम्तिहान होता, ऐसा ही कुछ घटता। एक बार के इम्तिहान में चाँदनी फल तथा मिठाई लेकर आयी और लाकर मेज़ पर रख दी। उस्तानी बहनजी के



कहने पर एक ब्राह्मण बहनजी ने सबको बाँट दी, तो सबने बेहिचक खा लिया। चाँदनी से रहा न गया—अगले दिन मुन्नी नाम की मास्टरनी से पूछ बैठी कि अगर मेरी लायी मिठाई और फल अच्छूत नहीं हैं, तो मेरे पास आने पर आप 'दूर रहो' क्यों कहती हैं? चाँदनी को मुन्नी बहनजी ने डाँटकर भगा तो दिया, लेकिन उसके मन में कौंधते हज़ारों सवाल की झड़ी को रफ़ा-दफ़ा नहीं कर सकीं।

000

उन्नाव ज़िले के ही प्रतापनगर कस्बे में एक सम्पन्न परिवार में जन्मी शिखा दूसरे किस्म के सवालों से उलझ रही थी। उसे समझ ही नहीं आता था कि उसकी माँ उसे इतना क्यों मारती है? जब-जब वह अपनी माँ की मार के बारे में सोचती, चौथी कक्षा में पढ़ी राखी की उस कहानी से जुड़ जाती, जिसमें सौतेली माँ उसे बहुत दुख देती थी। अपनी सगी माँ के लिये ही बार-बार सोचती—“कहीं यह भी मेरी सौतेली माँ तो नहीं, जो इतना मारती है मुझे?”

शिखा अपने घर की तीसरी बेटी थी। माँ की यह दूसरी शादी थी। जब माँ की गोद में एक छोटी बेटी पल रही थी, पहले पति का क़त्ल हो गया था। पिताजी की भी पहली पत्नी गुज़र गयी थीं। माँ क्यों पीटती थी इतना—अपनी ही बीती जिन्दगी से परेशान होकर या किसी और वजह से? वे कौन सी कुण्ठाएँ थीं, जो जवान माँ के दिल में कुण्डली मार कर बैठ गयी थीं, पर जिन्हें नन्हीं—सी शिखा जान नहीं पाती थी।

शिखा की पैदाइश के चार साल बाद जब घर में पुत्र का जन्म हुआ, शिखा का मान बढ़ गया। सब कहते: “चलो, यह सौभाग्य से अपने बाद भाई लायी। कहीं बहन ले आती, तो क्या होता?”

पिताजी जड़ी-बूटी की दवाइयों की दूकान करते थे, लेकिन यह दूकान धीरे-धीरे मन्दी होती जा रही थी और घर की तंगी बढ़ से बढ़तर हो रही थी। जब शिखा आठवीं कक्षा में पढ़ रही थी, पिताजी का देहान्त हो गया। जिस सम्पन्नता और वैभव के बोझ ने घर की चहारदीवारियों में हज़ारों बेड़ियाँ और पाबन्दियाँ डालकर क़ैद कर रखा था, अचानक वह सब ख़त्म हो गया, साथ ही तमाम मजबूरियों को ढँककर दुनिया के सामने एक सफ़ेदपोश, छवि बनाये रखने का दबाव भी! जिस दिन पिताजी गुज़रे, उसी दिन शिखा का बचपन ख़त्म हो गया। एक ही दिन में वह मानो दसियों साल का सफ़र तय कर गयी।

000

परन्तु पल्लवी ने जिस माहौल में साँस लेना सीखा, वह इस सम्पन्नता और इज़्जतदारी के चक्रव्यूह से बहुत दूर था। सन् 1972 में शाहजहाँपुर ज़िले के बिठौली गाँव में पल्लवी एक ऐसे परिवार में जन्मी, जहाँ की माली हालत बहुत ख़राब थी। जन्म के समय पिता एक उपन्यास पढ़ रहे थे उपन्यास की नायिका का नाम था पल्लवी। उस नायिका की किस बात पर मुग्ध थे पिता, यह तो नहीं पता, लेकिन उसी के नाम पर घर में जन्मी इस दूसरी बेटी का नाम उन्होंने पल्लवी रखा।

धुर बचपन में ही कई घटनाएँ ऐसी घटीं, जो पल्लवी के नरम-दिल पर गहरे निशान छोड़ गयीं। जन्म के छः दिन पहले ही घर में आग लग गयी। मेहनत-मज़दूरी से खड़े किये घर में कुछ नहीं

बचा। होश सँभालने के साथ उसने यही सुना: “यह करमजली तो पैदा होने से पहले ही सब कुछ खत्म करके आयी है।”

पल्लवी छः माह की हुई ही थी कि एक दिन घर में भेड़िया घुस आया और उसी को मुँह में दबाकर भागा। जाने कैसे घर के पालतू कुत्ते ने भेड़िये को दौड़ा लिया, तो भागते हुए भेड़िये के मुँह से पल्लवी गिर गयी। इस दुर्घटना से पल्लवी के नन्हें—से जिस्म पर जो घाव बने थे, वह तो दवा से ठीक हो गये, लेकिन कच्ची उम्र में ही दूसरे तमाम ज़ख्म ऐसे मिले कि आज तक भर नहीं पाये हैं।

नौ ही साल की तो थी, जब पड़ोस के अघेड़ मिश्राजी ने उसे टॉफी और बिस्कुट का लालच देकर अपने पास बुलाना शुरू कर दिया था। पल्लवी जब पास जाती, तो उसे ज़बरदस्ती सहलाते। कहते, “सभी लोग यही करते हैं। तुम्हारे अम्मा—बाबू भी करते हैं।”

अम्मा को बताया तो उल्टा खुद ही डाँट खायी। अम्मा बोलीं, “उस गन्दे आदमी के पास मत जाया करो।”

मिश्राजी के प्रति धिन और घृणा से भरी पल्लवी को माँ की डाँट ने खामोश तो कर दिया, लेकिन जैसे—जैसे वह बड़ी होती गयी, यह सहज ही समझती गयी कि लड़कियों को बेआवाज़ इसलिये कर दिया जाता है ताकि मिश्राजी जैसे मर्द निडर होकर उनके जिस्मों के साथ मनचाहा खिलवाड़ कर सकें।

000

## मंथन सात बचपनों का

लेखन की इस पूरी सामूहिक—यात्रा में बचपन को कागज़ पर उड़ेल कर हम सबने जितने आँसू रोये और हमारी जितनी हिचकियाँ बँधी, उतना और किसी दौर में नहीं। हम तो ज़िन्दगी की रोज़—रोज़ की मार के बीच भुला ही बैठे थे यह दौर। पर बचपन की अपनी छोटी—छोटी झोलियों पर सालों से जमा हो गयी गर्द को जतन के साथ झाड़—पोछकर और उनमें हाथ डालकर जब टटोला, तो पुरानी यादें नुकीले कंकड़ बनकर अँगुलियों के पोरों में दसियों छेद कर गयीं।

तकलीफ़ें तो बहुत सारी निकल कर आयीं, पर मिलकर जब अपनी कहानियों को जोड़ने की कोशिश की तो जातिभेद की रस्सी में बार—बार अपना बचपन बुरी तरह जकड़ा हुआ पाया। अभाव तो सबने सहे, पर उन अभावों की पीड़ा को जिस तरह जातिगत—ढाँचा ढालता, गहराता और उनमें ज़हर पैदा करता है, वह हमारी चर्चा का बार—बार विषय बना।

अब यह बातचीत हमारे लिये इतनी आसान नहीं थी। हममें से कुछ के लिये यह स्वीकार करना कठिन था कि ऊँची जाति में पैदा भर हो जाना ही कितनी बड़ी सुविधा बन जाती है जीने के लिये। पेट की भूख तो सब बच्चों के लिये एक—सी ही होती है, लेकिन भूख मिटाने की परिस्थितियाँ किस तरह हमारे समाज में उस भूख को अलग कर देती हैं। भेद तो करना ही पड़ेगा उन परिस्थितियों में, जहाँ एक के घर कुछ नहीं है तो माँ को अपनी नवजात बेटी को मेड़ पर लिटा कर ‘सीला’ बीनना पड़ता है,

और दूसरी के घर बहुत सारी दिक्कतों के बावजूद माँ चौखट लॉघे बिना बच्चों के लिये कुछ दाल, मूँगफली और धान बचा ले जाती है। पर यह भी कैसी विडम्बना है कि पुरानी दाल को कीड़ों से नहीं बचा पाती! इसी तरह घर की भूख मिटाने का मौका जहाँ एक ब्राह्मण की बेटी को श्राद्ध में जीमने के लिये न्यौते के रूप में मिलता है, वहीं एक दलित बच्ची को श्राद्ध में आये सवर्णों की जूठी पत्तलों के इर्द-गिर्द मँडराकर।

इस तरह के भेदों पर शुद्ध-वैचारिक गोष्ठी करना और बात है, पर बहुत ही निजी लेखन के माध्यम से जूझना कुछ और! हममें से जो सवर्ण हैं, उन्हें बार-बार लगता कि जाति के मुद्दे के प्रति तो हम बहुत संवेदनशील हैं, इसलिये दलित होने के पूरे दर्द को अपने भीतर महसूस कर सकते हैं। इसीलिये संध्या एक बार बोली कि जाति-भेद की पीड़ा को तो हम सब महसूस कर पाते हैं, क्योंकि हम सबने उसे करीब से देखा है। राधा ने बहुत तटस्थ होकर इस पर याद दिलाया: "किसी दूसरे की पीड़ा को महसूस करना एक चीज है, और उसे झेलना कुछ और। आपने उसे सिर्फ महसूस किया है, लेकिन हमने उसे झेला है। हमारे और आपके अनुभव एक हो ही नहीं सकते।"

पल्लवी ने वह कहावत दोहरा दी:

"जाके पाँव न फटी बेवाई।

सो क्या जाने पीर पराई?"

बेवाईयों भी क्या सभी पाँवों में एक ही जैसी फटती हैं? वर्ग और जगह की परिस्थितियाँ भी क्या जाति को अच्छी तरह तोड़-मरोड़ और उलझा कर नहीं रख देती? मधुलिका जाति की श्रेणी में राधा से नीचे होकर भी ऐसे परिवेश में बड़ी हुई, जहाँ सवर्ण जातियाँ न तो बहुत धनवान थीं, और न ही उनका बाहुल्य था। जिस भूख और तिरस्कार के साये में राधा पली, उसकी तो मधुलिका अपने बचपन में कल्पना तक नहीं कर सकती थी!

राधा जिस छुआछूत और अपमान से गुजरी, वह भयंकर गरीबी के साथ गाँव के एकमात्र दलित-परिवार में बड़ा होने से भी जुड़ा था। ऊपर से पिता का विद्रोही बनकर सवर्ण जातियों के तथाकथित ऊँचेपन को चुनौती देना उसके बचपन की परिस्थितियों को और भी तकलीफ़देह बना गया। रोज़-रोज़ के तिरस्कार ने ख़ामोश कर दी राधा की ज़बान।

संध्या भी पिता की मौत के बाद लादे गये अपमान और उपेक्षा से चुप तो हो गयी, लेकिन एक ओर जहाँ उसने पिता की मौत का कारण बनने का झूठा इल्ज़ाम झेला, वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण होने की वजह से अपने को औरों से ऊपर और अधिक पवित्र भी मान बैठी। शायद वर्ग, जाति और माहौल की इन्हीं जटिलताओं की वजह से जहाँ संध्या आगे चलकर विद्रोह करने के लिये एक आक्रोश और आवाज़ पा जाती है, वहीं राधा टकरावों के बीच ख़ामोश-सी रह जाती है! नहीं ज़रूरत महसूस होती राधा को कि हर बात उसकी सुनी ही जाये, क्योंकि सुनकर भी ऊँची जाति में पले लोग उसकी बात समझने या स्वीकारने में सक्षम होंगे, इसकी उम्मीद करना छोड़ दिया है राधा ने।

हमारी चर्चाओं का जो एक अन्य मार्मिक पहलू बना, वह था अपनी माओं और दादियों की पीड़ाओं और इच्छाओं से जुड़ जाना।

चाँदनी को महसूस हुआ कि कहीं उसकी पैदाइश पर अम्मा की नाराज़गी इस बात से तो नहीं जुड़ी थी कि अब्बू के किसी दूसरी महिला से सम्बन्ध थे। अम्मा शायद डरती थीं कि कहीं एक अनचाही सन्तान पति को और दूर न खींच ले जाये उनसे! उनके शरीर पर होने वाली यातनाएँ कहीं और न बढ़ जाएँ!

इसी तरह जब संध्या और गरिमा की माँ क्रमशः छब्बीस और अट्ठाइस वर्ष की आयु में ही विधवा हो गयीं, तो क्या रही होंगी उनकी परिस्थितियाँ, उनके संघर्ष और उनकी इच्छाएँ? जिस दुनिया में हमने साँस ली, वहाँ मर्दों की यौनिक-इच्छाओं को तो ज़रूरत मानकर स्वीकार करना हमने बहुत पहले सीख लिया। यही नहीं, हममें से कई अपने पिताओं के अन्य महिलाओं से बने रिश्तों के बारे में भी समझ गयीं। पर क्या वजह थी कि माओं की यौनिक-इच्छाओं के बारे में हम कभी सोच ही नहीं पाये?

माओं के साथ हुई हिंसा को जब याद किया, तो हममें से कुछ को अपनी दादियों की व्यथा और कष्ट रुला गये। गरिमा की दादी ने पति से इतनी मार खायी थी कि कमर के नीचे का हिस्सा हमेशा के लिये नीला पड़ गया था। डायरी लिखती गरिमा के मन में सवाल जागा कि बच्चे हुए तो ज़रूर दादी के, लेकिन बाबा से उनका रिश्ता कैसा था? दादी के लिये बाबा के दिल में कोई नरमी या प्यार है, यह कभी दिखा ही नहीं। बाबा ने अपनी सभी बहुओं को बेटों से अलग खेत दिये। तब दादी को भी तो दे सकते थे? जिस घर, परिवार और पति के लिये जीवन भर खटती रहीं दादी, उनके अन्त समय पर उन्हें कोई खाने को भी नहीं पूछता था!

डायरियाँ लिखते-बाँटते अपने, माँ के और दादी के कष्ट इस तरह आपस में गुँथ गये कि उन्हें अलग करके देख पाना असम्भव लगा। अपनी-अपनी माओं के बारे में सोचने बैठे तो यह भी बहुत साफ़ होकर उभरने लगा कि कैसे हमारे जीवन के संघर्षों में अमीरी-गरीबी, धर्म-जाति और हमारा औरत होना; सब आपस में हमेशा उलझा रहता है? जैसे कोई रैदास अमीर है, तो उसकी औरत भी इज़्जत आबरू के नाम पर सात परदों के अंदर होगी, चाहे वहाँ कितनी ही पीटी-कुचली जाये। गरिमा की माँ जानती थीं कि यदि वह दरवाज़े के बाहर निकल जाएँ तो पति मारेंगे नहीं। फिर भी इस तरह कैद रहीं पारिवारिक-इज़्जत की परिभाषाओं में कि पूरी जवानी घर की चौहदियों में ही घुट कर बिता दी। यह तो स्वीकार कर लिया कि घर के बाहर निकलने से बदनामी होगी, लेकिन पूरा गाँव जो जानता था कि कितनी बेरहमी से घर के भीतर पीटी जाती हैं, उस बदनामी की चिन्ता क्यों न थी? कौन से संस्कार और कैसा परिवेश था वह, जिसने उन्हें मार खाना तो सिखाया पर विरोध करना नहीं? कैद को स्वीकार करना सिखाया, पर रिहाई का रास्ता चुनना नहीं?

000

एक तीसरा मुद्दा जो हमारी रूह को हर बार कँपकँपा-सा जाता था, वह था धर्म का मुद्दा और उससे जुड़ा खून ख़राबा। जब-जब संध्या उस क़त्ले-आम को याद करके सिसकती, जिसमें उसके पिता

मारे गये थे; तब-तब हमें याद आते गुजरात के दंगे, और ऐसे ही तमाम फ़साद। संध्या तो अपने पिता के क़त्ल के समय सिर्फ़ छः माह की थी, फिर भी हर पल दुश्मनों से बदला लेने की सोचती। फिर क्या गुज़रती होगी उन बच्चों पर, जिन्हें अपने बाप का जलता बदन, भाई की कटी लाश या अपनी माँ और बहनों के साथ होते सामूहिक-बलात्कार अपनी आँखों के सामने देखने पड़ते हैं? कैसी आग धधकती होगी सालों-साल उनके भीतर और कितने आँसुओं के सैलाब उमड़ते होंगे बरस-दर-बरस?

बाबरी मस्जिद का टूटना भी तो कुछ इसी तरह दहला गया चाँदनी को, जब गाँव के लोग बिना बात को आपस में बुरी तरह भिड़ गये। बाबरी मस्जिद के हादसे के तुरन्त बाद अफ़वाहें फैलार्यीं जा रहीं थीं कि गाँव की मस्जिद आज तोड़ी जायेगी, कल तोड़ी जायेगी। ऐसे में एक भंगी कहीं से जानवर (सुअर) मारकर लाया और मस्जिद की सीढ़ियों पर डाल गया। दंगा भड़का और, वह भंगी मारा गया। साज़िश तो और किसी ने रची होगी, लेकिन भंगी ही मारा गया। इसीलिए न क्योंकि उसी के हाथों मस्जिद में ऐसा जानवर डाला गया, जिसे इस्लाम में कुफ़्र माना गया है।

यही परिस्थितियाँ तो चाँदनी की ज़िन्दगी और काम को बाकी समूह से अधिक चुनौतीपूर्ण बना डालती हैं। एक ओर कौमी ग़लतफ़हमियों से भरे नफ़रत के माहौल में सामाजिक लड़ाइयाँ जारी रखने की हिम्मत बनाये रखना और दूसरी ओर अपनी ही कौम के लोगों का बार-बार यह ताना मिलना कि इसका तो हर काम हिन्दुओं जैसा है! इसके बावजूद कैसे कायम किये रहती है चाँदनी अपना संयम और संतुलन? कैसे सुनाती रहती है ख़ूबसूरत नग़में और अश्कार?

000

शुरुआत में सब जब बचपन की बातें करने बैठे, तो मालूम हुआ कि हम सातों में से पाँच ने बचपन में अपने पैदा होने को कोसा है कि क्यों हुए हम पैदा? क्यों हुआ हमारे साथ यह सब? डायरी पहले-पहल सुनायी एक-दूसरे को तो लगा कि यही वह सबसे अहम कड़ी है, जो हम सबकी अलग-अलग पीड़ाओं को जोड़ रही है; लेकिन जैसे-जैसे हमारी बातचीत गहरायी, हमें यह भी महसूस हुआ कि हम कितना कुछ जानना-समझना तथा बाँटना चाहते हैं एक-दूसरे और आपस में सबके साथ। महिला संगठनों में औरतों के खिलाफ़ हुई हिंसा पर इतनी सारी बातचीत केन्द्रित रहती है, लेकिन वह हिंसा किस क़दर जातिगत, धार्मिक और वर्ग-भेद की हिंसाओं में उलझी और फँसी हुई है, इसके बारे में कितना कम सोचा है हमने अपनी बैठकों, कार्यशालाओं तथा क्षेत्रीय काम में! इन हिंसाओं का आपस में गुँथना, हमारे परिवेशों से जुड़ा हुआ इनका इतिहास और फिर इन पिछली और आज की हिंसाओं के दलदल में से अपने आगे की लड़ाइयों को चुनना! इन्हीं मुद्दों को आगे हमने गहराई से समझने की ठानी है ताकि आज से बीस साल बाद अगर कहीं हमारी बेटियाँ हमारी ही तरह अपने बचपन की कहानी लिखने-बाँटने बैठें, तो आँसुओं के अलावा और भी कई रंग हो बाँटने को... मस्ती हो, कहकहे हों... और एक भी शब्द ऐसा न लिखा जाये, जिसमें उन्हें अपनी पैदाइश को कोसना पड़े।

000